



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2020; 6(3): 491-494  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
 Received: 14-01-2020  
 Accepted: 15-02-2020

### डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं०- 102  
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

## संस्कृत व्यंजनों का उच्चारण-काल : ध्वनि वैज्ञानिक विश्लेषण

### डा० कैवल्य चैतन्य

#### सारांश

प्रातिशाख्यों में व्यंजन वर्णों को आधी मात्रा में उच्चरित होने वाली ध्वनि माना गया है। मात्र चतुर्ध्यायिका इसका अपवाद है, जो इसका उच्चारण काल एक मात्रा मानती है। नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। अवसान में स्थित उत्तम स्पर्शों के उच्चारण में ऐसा होता है। ह्रस्व-स्वर के बाद उच्चरित होने वाले यकार, वकार तथा लकार का उच्चारण दो मात्रा काल में होता है एवं किसी व्यंजन के पश्चात् उच्चरित होने पर इनका उच्चारण डेढ़ मात्राकाल में होता है तथा दीर्घ स्वर से पूर्व उच्चरित होने वाला रेफ एकमात्रिक उच्चरित होता है। व्यंजन का मापन सामान्यतः अर्धमात्रा क्यों माना गया था, इसका कारण यह बतलाया गया है कि व्यंजन का अर्धमात्रा में उच्चरित होना उसका स्वर के साथ संपर्क के कारण ही है। व्यंजनों के उच्चारण में मात्राधिक्य का विधान उसके आधारभूत स्वर के प्रभाव के कारण ही किया गया है। सर्वसम्मत-शिक्षा में स्वररहित व्यंजन का उच्चारण काल चौथाई मात्रा माना गया है।

**मुख्य शब्द :** प्रातिशाख्य, चतुर्ध्यायिका, नासिक्य, अवसान, मात्राधिक्य, स्फोटनकाल, संघर्षी ध्वनि, उदात्त, स्वरित, कारिका।

#### प्रस्तावना:

संस्कृत व्यंजनों के उच्चारण में जो काल लगता है उसे प्रायः अर्धमात्राकाल माना गया है। विशेष परिस्थितियों में विशेष व्यंजनों के उच्चारण में मात्राधिक्य भी देखा जाता है। संस्कृत में अन्य परिस्थितियों में कतिपय का उच्चारण काल अणुमात्रा के बराबर भी माना गया है।

#### आलेख (Main thrust)

चतुर्ध्यायिका के अतिरिक्त सभी प्रातिशाख्यों में व्यंजन वर्णों को आधी मात्रा में उच्चरित होने वाली ध्वनि माना गया है।<sup>1</sup> ऋ० तं० भी व्यंजन वर्णों को एक मात्रा अथवा आधी मात्रा में उच्चरित होने का विधान करता है।<sup>2</sup> च० अ० तो व्यंजनों का उच्चारणकाल एक मात्रा मानती है।<sup>3</sup> तै० प्रा० के एक सूत्र की व्याख्या में वैदिकाभरणकार ने शिक्षा ग्रंथों से कतिपय कारिकाओं को उद्धृत किया है, जिनके आधार पर यह कहा गया है, कि नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। इसके अनुसार अवसान में स्थित ङ्, ज्, ण्, न् तथा म् के उच्चारण में अधिक समय लगता है। ह्रस्व स्वर वर्ण से बाद उच्चरित होने वाले नासिक्य व्यंजनों के उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है एवं दीर्घ तथा प्लुत स्वरों के पश्चात् उच्चरित होने वाले नासिक्य व्यंजनों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है।<sup>4</sup> परन्तु दूसरी कारिका में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसा उच्चारण केवल पदपाठ में ही संभव है, संहितापाठ में नहीं।<sup>5</sup> उदाहरणार्थ – ईदृङ्। च। अन्यादृङ्। च। इन स्थलों पर ङकार का उच्चारण दो मात्राकाल में होता है तथा 'सत्यराजा३न्', 'लाजी३न्' इत्यादि स्थलों पर नासिक्य वर्ण 'नकार' का उच्चारण मात्राकाल में ही होता है। अवसानस्थ लकार के उच्चारणकाल के संबंध में वैदिकाभरणकार का कथन है कि शिक्षा में अवसानस्थ लकार को तीन चौथाई मात्रा में उच्चरित होने का विधान किया गया है।<sup>6</sup> परन्तु यह विधान भी पदपाठ में ही संभव है। स्वर-विहीन व्यंजन नित्य ही अणुमात्रा काल में उच्चरित होते हैं।<sup>7</sup> इस प्रसंग में वैदिकाभरणकार ने 'अत्यन्धानगाम्' मन्त्रांश को उद्धृत करके यह स्पष्ट कर दिया है कि इस स्थल पर अंतिम व्यंजन का उच्चारण 'अणु' मात्राकाल में होता है। इसी प्रकार इसी भाष्य में अन्तस्थों के उच्चारणकाल के संबंध में भी अत्यंत सूक्ष्म विचार प्राप्त होते हैं। ह्रस्व-स्वर के बाद उच्चरित होने वाले यकार, वकार तथा लकार का उच्चारण दो मात्रा काल में होता है एवं किसी व्यंजन के पश्चात् उच्चरित होने पर इनका उच्चारण डेढ़ मात्राकाल में होता है तथा दीर्घ स्वर से पूर्व उच्चरित होने वाला रेफ एक मात्रिक उच्चरित होता है।<sup>8</sup>

#### Corresponding Author:

#### डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं०- 102  
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

वैदिकाभरण में स्वरित आघात के बाद उच्चरित होने वाले कतिपय व्यंजनों की मात्रा में वृद्धि का उल्लेख भी किया गया है। इसके अनुसार स्वरित स्वर के अंगभूत व्यंजन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। तै0 प्रा0 में कहा गया है कि स्वरित का प्रारंभ 'उदात्त' के समान होता है एवं अंत 'अनुदात्त' के समान होता है। परंतु वैदिकाभरण के अनुसार यह द्वितीय तत्त्व 'अनुदात्त' कभी स्वर वर्णों में नहीं होता है, यह केवल उन व्यंजनों वर्णों में होता है, जो उस स्वर से बाद में उच्चरित होते हैं। इन व्यंजनों को 'स्वरितग्राही व्यंजन' कहा जाता है। इनका उच्चारण अर्द्धमात्रा काल में नहीं हो पाता है, इनके उच्चारण के लिए अधिक समय की आवश्यकता पड़ती है। व्यंजनों के उच्चारण में मात्राधिक्य का विधान उनके आधारभूतस्वर के प्रभाव के कारण ही किया गया है। उपरिक्त व्यंजनों की मात्रा के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार करने से हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि जब आधुनिक युग में यंत्रों की सहायता से यह निश्चित हो चुका है, कि व्यंजन वर्णों के उच्चारण में लगने वाले कुल समय का परिणाम किसी प्रकार भी ह्रस्व स्वर के उच्चारण में लगने वाले समय के परिणाम से कम नहीं होता, तब प्राचीन आचार्यों ने व्यंजनों का उच्चारणकाल आधीमात्रा क्यों स्वीकार की? इसका समाधान देना सरल कार्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन आचार्यों ने व्यंजन ध्वनियों के उच्चारण में लगने वाले समय के परिमाण को उतना ही स्वीकार किया है, जितने समय में व्यंजन ध्वनियों का श्रवण होता है। स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में जितने समय तक वायु का स्फोटन होता है, उतना ही उसका उच्चारणकाल माना जाता है। क्योंकि ध्वनि स्फोटन काल में ही श्रुतिगोचर होती है। परन्तु यदि इस दृष्टि से देखा जाय कि व्यंजन के उच्चारण में किये जाने वाले आभ्यन्तर प्रयत्नों तथा वायु के स्फोटनरूपी क्रियाओं में लगने वाला समय ही उस ध्वनि का उच्चारणकाल है, तो चतुर्ध्यायिका का मत अधिक समीचीन है। सर्वसम्मत-शिक्षा में भी स्वर रहित व्यंजन का उच्चारण काल चौथाई मात्रा (अणुमात्रा) माना गया है, तथा यह भी कहा गया है, कि स्वरयुक्त व्यंजन अर्ध-मात्रिक उच्चरित होता है।<sup>9</sup> व्यंजन का मापन सामान्यतः अर्द्धमात्रा क्यों माना गया था, इसका कारण यह बतलाया गया है कि व्यंजन का अर्द्धमात्रा में उच्चरित होना उसका स्वर के साथ संपर्क के कारण ही है। इस कथन का अर्थ है कि अणुमात्रिक व्यंजन जब किसी स्वर के साथ उच्चरित होता है, तो उसकी मात्रा में स्वर की अणुमात्रा का संपर्क हो जाने से व्यंजन को अर्द्धमात्रिक माना जाता है। प्रो0 रुदे का कथन है कि जब व्यंजन के बाद कोई स्वर आता है तब उसके उच्चारण में उच्चारण की गति की एक अति संक्षिप्त कालावधि लगती है, जो कि एक सेकेण्ड के शतांश का 2 से 3 अंश तक होता है तथा वह व्यंजन एवं स्वर दोनों में सामान्य होता है। प्रो0 रुदे इसको स्वर का ही भाग स्वीकार करते हैं। पाराशरी शिक्षा के अनुसार सघर्षी ध्वनि की मात्रा दीर्घ स्वर की मात्रा के बराबर होती है। इस शिक्षा का यह विचार तथ्य के अधिक अनुरूप है, क्योंकि सघर्षी ध्वनि के उच्चारण में मुखविवर से वायु निरन्तर निकलती रहती है। अतः इस प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में अन्य व्यंजनों के उच्चारण-काल की अपेक्षा अधिक समय लगना स्वाभाविक ही है।

वैदिकाभरण द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यंजनों के उच्चारण संबंधी विवरणों का विश्लेषण करने के प्रयास के फलस्वरूप यही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि उपर्युक्त उच्चारणकाल किसी क्षेत्र विशेष एवं बोली विशेष के संबंध में सत्य सिद्ध होते हैं। आधुनिक युग में ध्वनि वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से वैदिकाभरण द्वारा उल्लिखित कतिपय विधानों की सत्यता को सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि जिन बोलियों को दृष्टि में रखकर उपर्युक्त विधान शिक्षा ग्रंथों में किये गये हैं, वे बोलियाँ पूर्णतया लुप्त हो गई हैं। अब उन्हें खोज निकालना अत्यंत कठिन है। निष्कर्ष रूप

में यही कहा जा सकता है कि व्यंजनों का उच्चारणकाल आधी मात्रा मानना सामान्य उच्चारण की दृष्टि से अधिक उचित है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम 'विराम' के स्वरूप के संबंध में विचार कर लेना उचित होगा। प्रातिशाख्यों में विराम के काल के विषय में भी अत्यंत वैज्ञानिक विधान प्राप्त होते हैं। विराम का तात्पर्य है – उच्चारण का अभाव। अर्थात् जब किसी वाक्य अथवा पद का उच्चारण करते समय किसी विशेष स्थल पर थोड़ा रुककर पुनः उच्चारण प्रारंभ किया जाता है, तो उस 'अनुच्चारणकाल' को विराम कहा जाता है। व्यास शिक्षा की टीका में 'विराम' की व्याख्या करते हुए इसे 'अनुच्चारणकाल' कहा है। अष्टाध्यायी में 'अवसान' को विराम कहा गया है।<sup>10</sup> इस सूत्र की व्याख्या में सिद्धांतकौमुदीकार का कथन है कि वर्णों का अभाव अवसान संज्ञक होता है।<sup>11</sup> इस प्रकार 'विराम' उसे कहेंगे जब वक्ता उच्चारण करते-करते किसी स्थल विशेष पर कुछ समय के लिए उच्चारण की प्रक्रिया को बंद कर देता है तथा स्वयं कुछ आराम करने की स्थिति का अनुभव करता है। वेदमंत्रों का उच्चारण करते समय वक्ता को अनेक स्थितियों में रुकना पड़ता है – जैसे दो पदों के उच्चारण के बीच, दो अर्द्धचौं के उच्चारण के बीच एवं दो मंत्रों के उच्चारण के बीच कुछ समय के लिए उच्चारण का अभाव होता है, इसे ही 'विराम' कहा जाता है। यह 'विराम' एक ही पद में दो स्वरों के मध्य भी होता है।

ऋ0 प्रा0 में 'विराम' के प्रसंग में केवल 'विवृत्ति' एवं 'अवग्रह' के काल का विधान किया गया है। ऋ0 प्रा0 एवं अन्यान्य ग्रंथों के आधार पर विवृत्ति दो प्रकार के स्थलों पर होती है – (1) एक ही पद के मध्य में तथा (2) दो पदों के संधिस्थल पर। ऋ0 प्रा0 के अनुसार संपूर्ण ऋक्संहिता में 'पुरएता', 'तितउना', 'प्रउगम्' तथा 'नमउक्तिभिः' – इन्हीं चार पदों में समानपद विवृत्ति है।<sup>12</sup> ये विवृत्तियाँ दो स्वरों के मध्य में होती हैं। ऋ0 प्रा0 में विवृत्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है – दो स्वरों के मध्य विद्यमान अवकाश (व्यवधान) को विवृत्ति कहते हैं।<sup>13</sup>

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है, कि जहाँ पर दो स्वरों के मध्य संधि का स्थल होते हुए भी संधि नहीं की जाती है, वहाँ उच्चारण करते समय काल का व्यवधान होता है। तात्पर्य यह है कि संहिता में एक स्वर के उच्चारण के बाद बिना किंचित् काल का व्यवधान किये ही दूसरा स्वर उच्चरित कर दिया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप संधि विकार हो जाता है, परन्तु जब एक स्वर के बाद दूसरे स्वर को इस प्रकार उच्चरित किया जाय, जिससे उनके, मध्य संधि विकार न हो सके, तो प्रथम स्वर के उच्चारण के पश्चात् कुछ रुककर द्वितीय स्वर का उच्चारण किया जायेगा। इसी अनुच्चारणकाल को विवृत्ति का काल कहा जाता है। विवृत्ति विकल्प से स्वरभक्ति के काल वाली होती है।<sup>14</sup> इस सूत्र के भाष्य में उवट का कथन है कि दोनों ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्ति 'चौथाई' मात्राकाल वाली होती है यथा – 'प्राऋभुम्यः' तथा 'प्रत्युअदर्शि'। एक ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति आधी मात्रा काल वाली होती है, यथा – 'नू इत्था ते' तथा 'सानो अव्ये'। दोनों ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति तीन चौथाई मात्राकाल वाली होती है यथा – 'ता ईवर्धन्ति' एवं 'इमा गावः सरमे या ऐच्छः'। तै0 प्रा0 में विधान किया गया है कि ऋग्विराम, पददिराम, विवृत्ति-विराम और समानपद-विवृत्ति विराम का काल क्रमशः तीन मात्रा, दो मात्रा, एक मात्रा एवं अर्द्धमात्रा होता है। तै0 प्रा0 के इसी सूत्र पर त्रिभाष्यरत्न एवं वैदिकाभरण दोनों भाष्यों में विविध विवृत्तियों में होने वाले विरामों की मात्रा के संबंध में पर्याप्त विचार किया गया है। वैदिकाभरण में ऋग्विराम के दो भेद स्वीकार किये गये हैं – (1) ऋचा के अन्त में (2) ऋचा के मध्य में। ऋचा के मध्य में होने वाला विराम दो अर्द्धचौं के मध्य होता है। ये दोनों प्रकार के विराम तीन मात्राकाल वाले होते हैं। तात्पर्य यह है कि ऋचाओं का पाठ करते समय प्रत्येक अर्द्धचौं की समाप्ति होने के बाद तीन मात्राकाल का विराम करना चाहिए। वैदिकाभरणकार ने कतिपय अन्य प्रकार के विरामों का मात्रा के संबंध में भी उल्लेख किया

है। जिनके अनुसार दो अनुवाकों के मध्य में 'डेढ़ मात्रिक' विराम होना चाहिए। इसी प्रकार जो शब्द यजुषमंत्रों के अन्त में एवं प्रतीक मंत्रों के अन्त में आते हैं, उनके पश्चात् भी डेढ़ मात्राकालिक विराम होता है। दो 'ब्राह्मणों' के मध्य में भी डेढ़मात्रिक विराम होता है। पदपाठ में प्रग्रह (प्रगृह्य) स्वर के पश्चात् तथा इतिकरण के योग में ऋचा के अन्त में भी दो मात्रा कालिक विराम होता है। क्रमपाठ में प्रग्रह (प्रगृह्य) स्वर के पश्चात् होने वाले ऋग्विराम को तीन मात्रिक जानना चाहिए।

'पद विराम' का तात्पर्य है – विभक्त पदों के मध्य में होने वाला विराम। अर्थात् पदपाठ में दो पदों के मध्य होने वाला विराम पद 'विराम' कहलाता है। यह विराम दो मात्रा कालिक होता है। क्रमपाठ में भी पदों के बाद दो मात्रा कालिक विराम करना चाहिए। पदपाठ में 'समस्तपदों' के पृथक्करण में अवग्रह (पृथक्करण) को भी एक मात्राकालिक माना जाता है, अर्थात् जब समस्तपद को अवगृहीत किया जाता है, तब उन दोनों पदों के मध्य में एक मात्राकालिक विराम होता है।<sup>15</sup> 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में कहा गया है कि अवग्रह में अर्द्धमात्रिक विराम होता है एवं दो पदों के मध्य में एक मात्रा कालिक विराम करना चाहिए।<sup>16</sup>

'विवृत्तिविराम' का तात्पर्य है – दो पदों के मध्य होने वाली विवृत्ति का विराम। इसका काल एकमात्रा माना गया है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी मन्त्र में दो पदों के मध्य में संधि-स्थल होने पर भी संधि का अभाव दिखलाई पड़े तो ऐसे स्थल पर उन दोनों स्वरों के मध्य में एकमात्राकाल का विराम किया जाता है। तै0 प्रा0 पर 'त्रिभाष्यरत्न' व्याख्या में विवृत्ति चार प्रकार की स्वीकार की गई है और प्रत्येक के काल के संबंध में भी विधान किया गया है। इसके अनुसार जिस विवृत्ति में पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व हो तथा परवर्ती स्वर दीर्घ हो वह 'ह्रस्व' एवं 'दीर्घ' स्वरों के मध्य होने वाली विवृत्ति 'वत्सानुसृति' संज्ञक होती है तथा इसका काल एक मात्रा होता है। जो विवृत्ति पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर एवं परवर्ती ह्रस्व स्वर के मध्य होती है वह 'वत्सानुसारिणी' संज्ञक विवृत्ति है तथा उसका काल भी एक मात्रा होता है। दो ह्रस्व स्वरों के मध्य होने वाली विवृत्ति 'पाकवती' संज्ञक होती है तथा इसका काल तीन चौथाई मात्रा होता है। इसी प्रकार दो दीर्घ स्वरों के मध्य होने वाली विवृत्ति 'पिपीलिका' संज्ञक होती है तथा इसका काल केवल एक चौथाई मात्रा होता है। ऋ0 प्रा0 पर भाष्य में उवट ने विवृत्ति को काल की दृष्टि से तीन प्रकार की बतलाया है – (1) दोनों ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्ति, यथा – 'प्रत्यु अदर्शि' में चौथाई मात्राकाल वाली ; (2) एक ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति, यथा – 'नू इत्था ते' 'सानो अय्ये' में आधी मात्रा काल वाली ; (3) दोनों ओर दीर्घ स्वर वाली विवृत्ति यथा – 'ता ई वर्धन्ति' में तीन चौथाई मात्राकाल वाली विवृत्ति होती है।

'विवृत्ति' के संबंध में उवट का मत त्रिभाष्यरत्नकार से भिन्न है। त्रिभाष्यरत्नकार ने दोनों ओर दीर्घस्वर वाली विवृत्ति में सबसे कम समय अर्थात् चौथाई मात्रा का उल्लेख किया है, जबकि उवट इसे तीन चौथाई मात्रा काल वाली स्वीकार करते हैं। एक ओर दीर्घ तथा दूसरी ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्तियाँ त्रिभाष्यरत्नकार के मत से एक मात्राकालिक होती हैं, जबकि उवट इन्हें आधी मात्राकाल वाली स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार दोनों ओर ह्रस्व स्वर वाली विवृत्तियाँ उवट के अनुसार एक चौथाई मात्राकाल वाली होती हैं, जबकि त्रिभाष्यरत्न उन्हें तीन चौथाई मात्राकालिक मानता है।

उपर्युक्त सभी विवृत्तियाँ दो पदों के मध्य होती हैं। एकपद के मध्य होने वाली विवृत्तियाँ संख्या में अत्यल्प हैं। तै0 प्रा0 में उनका काल आधीमात्रा माना गया है।

ऋक्तन्त्र में व्यंजनसमूह के अतिरिक्त दो ध्वनियों के उच्चारण के मध्य में चौथाई मात्राकालिक विराम होने का उल्लेख किया गया है।<sup>17</sup> वहीं दो स्वरों के मध्य अर्द्धमात्रिक विराम करने का विधान किया गया है।<sup>18</sup> 'अन्तः पद विवृत्ति' में भी अर्द्धमात्राकालिक विराम होता है, अतः ऋक्तन्त्र का यह विधान 'अन्तःपद विवृत्ति' के काल

की ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। व्यास शिक्षा के अनुसार 'ओङ्कार' के अन्त में ढाई मात्राकारिक विराम किया जाता है।<sup>19</sup> वहीं 'काण्ड' की समाप्ति पर, 'प्रश्न' की समाप्ति पर तथा 'अनुवाक' की समाप्ति पर क्रमशः दशमात्रा, आठमात्रा एवं पाँचमात्राकालिक विराम करने का विधान किया गया है।<sup>20</sup> ऋक्तन्त्र में सामगानों में दो मन्त्रों के मध्य तीन मात्राकालिक विराम करने का विधान किया गया है।<sup>21</sup>

शिक्षा-ग्रंथों में विभिन्न विरामों के काल के संबंध में अन्य अनेक प्रकार के विधान किये गये हैं। परन्तु वे सभी विधान किसी न किसी प्रकार की पाठ-विशेषों की प्रक्रियाओं से संबंधित हैं।

अनुस्वार के उच्चारण के संबंध में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रंथों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधान प्राप्त होते हैं। प्रातिशाख्यों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि अनुस्वार भी अन्य व्यंजनों के समान व्यंजन है। शिक्षा-ग्रंथों में अनुस्वार को ह्रस्व, दीर्घ एवं गुरुभेद से तीन प्रकार का माना गया है। ह्रस्व के पश्चात् उच्चरित होने वाला अनुस्वार 'दीर्घ' ; दीर्घ स्वर के पश्चात् उच्चरित होने वाला अनुस्वार ह्रस्व एवं गुरु अक्षर बाद में होने पर उच्चरित होने वाला अनुस्वार 'गुरु' संज्ञक होता है।

ऋ0 प्रा0 में उपधासहित अनुस्वार के उच्चारणकाल का विधान किया गया है। इसके अनुसार कतिपय आचार्यों का कहना है कि अनुस्वार से पूर्व में स्थित ह्रस्व स्वर वर्ण आधी स्वरभक्ति से न्यून होता है तथा ह्रस्व स्वर वर्ण से बाद स्थित अनुस्वार आधी स्वरभक्ति से अधिक होता है। ये आचार्य दीर्घ स्वर-वर्ण से बाद में स्थित अनुस्वार को चौथाई मात्रा से न्यून बतलाते हैं, तथा अनुस्वार से पूर्व में स्थित उस दीर्घ स्वर वर्ण को चौथाई मात्रा से अधिक बतलाते हैं।

उपर्युक्त सूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अनुस्वार और उसके पूर्ववर्ती स्वरवर्ण के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है, चाहे वह अनुस्वार ह्रस्वपूर्व हो अथवा दीर्घपूर्व हो। जब अनुस्वार के पूर्व ह्रस्व स्वरवर्ण होगा तो पूर्ववर्ती ह्रस्व वर्ण के उच्चारण में तीन चौथाई मात्रा का समय लगता है तथा अनुस्वार के उच्चारण में डेढ़ मात्रा का समय लगता है। जब अनुस्वार के पूर्व दीर्घस्वर होता है, तब पूर्ववर्ती दीर्घस्वर के उच्चारण में सवा मात्रा का समय लगता है और अनुस्वार के उच्चारण में तीन चौथाई मात्रा का समय लगता है।

तै0 प्रा0 में अनुस्वार को ह्रस्वस्वर के बराबर काल में उच्चरित होने वाली ध्वनि माना गया है। इसी पर वैदिकाभरण भाष्य में कतिपय शिक्षा-ग्रंथों से कारिकाओं को उद्धृत किया गया है जिनमें स्पष्टरूपेण कहा गया है, कि एकमात्रिक स्वर से बाद में आने वाला अनुस्वार दो मात्राकाल में उच्चरित होता है तथा दो मात्रिक स्वर के बाद में आनेवाला अनुस्वार एक मात्राकाल में उच्चरित होता है। यह भी कहा गया है कि संयोग बाद में होने पर ह्रस्व स्वर से बाद में आने वाला अनुस्वार भी दो मात्राकाल के समानकाल में उच्चरित होता है।

वा0 प्रा0 में विधान किया गया है कि ह्रस्व स्वर पूर्व में होने पर अनुस्वार डेढ़ मात्राकाल एवं पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर आधी मात्राकाल वाला होता है।<sup>22</sup> इसी प्रकार वा0 प्रा0 में दीर्घ-स्वर से परवर्ती अनुस्वार को आधी मात्राकाल वाला एवं पूर्ववर्ती दीर्घ-स्वर को डेढ़ मात्राकाल वाला कहा गया है।<sup>23</sup> इस प्रकार वा0 प्रा0 के अनुसार भी अनुस्वार तथा उसके पूर्ववर्ती स्वर वर्णों के पृथक्-पृथक् उच्चारणकाल के संबंध में ऋ0 प्रा0 एवं वा0 प्रा0 में मतैक्य नहीं है। शिक्षा-ग्रंथों में भी अनुस्वार की मात्रा के संबंध में पर्याप्त विचार किया गया है, परन्तु इन सभी विधानों में भिन्नता है, जिसका कारण स्पष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि उपर्युक्त भिन्नताएँ विभिन्न क्षेत्रों के उच्चारण को प्रदर्शित करती हैं। उन उच्चारणों का सही-सही पता न लग सकने से इस तथ्य की सत्यता के विषय में निश्चितरूपेण कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मात्रा संबंधी पूर्वोक्त विवरणों के ऊपर विचार करने से यही तथ्य प्रकाश में आता है, कि स्वर-वर्णों एवं व्यंजन वर्णों के उच्चारणकाल के संबंध में प्रायः सभी ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थ एकमत हैं। व्यंजनों में नासिक्य ध्वनियों और ऊष्म वर्णों का उच्चारण अन्य व्यंजनों की अपेक्षा अधिक समय में होता है। इसका कारण यह है, कि ये ध्वनियाँ जब उच्चरित होती हैं, तब वायु-प्रवाह में नैरन्तर्य बना रहता है। अर्थात् नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण के समय वायु नासिका-विवर से निकलती रहती है तथा ऊष्म-ध्वनियों के उच्चारण में वायु घर्षण करती हुई मुख-विवर से निकलती रहती है। इसी कारण वायु-प्रवाह में सातत्य बने रहने से उनके उच्चारण में श्रवणीयता का आधिक्य होता है। तात्पर्य यह है कि नासिक्य-ध्वनियों और संघर्षी-ध्वनियों को श्रोता अन्य व्यंजनों की अपेक्षा अधिक समय तक सुनता रहता है। इनके उच्चारण में वायु को अवरोध का सामना नहीं करना पड़ता। अननुनासिक स्पर्श-वर्णों के उच्चारण में वायु अवरुद्ध होकर स्फुट होती है, तभी स्फोटनकाल में ध्वनि सुनाई पड़ती है। यही स्फोटनकाल उनका उच्चारणकाल माना जाता है। परन्तु नासिक्य-ध्वनियों तथा ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में वक्ता के द्वारा किए जाने वाले प्रयास के प्रथम चरण में ही ध्वनि का श्रुतिगोचर होना प्रारंभ हो जाता है, इसीलिए इनका श्रवण भी अन्य व्यंजन ध्वनियों की अपेक्षा अधिक काल तक होता रहता है। अन्तस्थ-ध्वनियों के उच्चारण में भी अननुनासिक स्पर्श-वर्ण की अपेक्षा कालगत अधिकता होती है। इसका कारण भी यही है, कि अन्तस्थों के उच्चारण में ध्वनि का श्रवण अपेक्षाकृत अधिक काल तक होता है। इसके उच्चारण में भी वायु का सातत्य स्पर्श वर्णों की अपेक्षा अधिक काल तक बना रहता है।

प्रातिशाख्यों, शिक्षा-ग्रन्थों तथा अन्य अनेक ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों के सम्यक् अनुशीलन के आधार पर यही निष्कर्ष सामने आता है, कि सभी ग्रन्थ अपने अनुसार वर्णों के उच्चारण में लगने वाले काल की मात्रा का निर्धारण करते हैं। इस निर्धारण में जो भी विभिन्नतायें प्राप्त होती हैं, उनके मूल में शाखागत विशेष परंपराओं के साथ ही भौगोलिक कारण भी हैं। आधुनिक युग में भी सभी क्षेत्रों में उच्चरित किये जाने वाले वर्णों की मात्रा समान नहीं होती। यहाँ तक कि प्रत्येक उच्चारणकर्ता की उच्चारण-प्रक्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर उनमें भी कालगत वैभिन्न्य अवश्य प्राप्त होते हैं।

### निष्कर्ष

संस्कृत व्यंजनों का उच्चारणकाल सामान्यतः अर्धमात्रा के बराबर होता है, यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। तथापि विशेष परिस्थितियों में यह काल न्यून एवं अधिक भी होता है।

### संदर्भ (Reference)

01. ऋक् प्रातिशाख्य - 1 | 34  
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - 1 | 37  
वाजसनेयि प्रातिशाख्य - 1 | 59
02. ऋक्तंत्र - 28
03. चतुर्ध्यायिका - 1 | 59, 60
04. तै0 प्रा0 - 1 | 37 पर वैदिकाभरण
05. तै0 प्रा0 - 1 | 37 पर वैदिकाभरण
06. तै0 प्रा0 - 1 | 37 पर वैदिकाभरण
07. तै0 प्रा0 - 1 | 37 पर वैदिकाभरण
08. तै0 प्रा0 - 1 | 37 पर वैदिकाभरण
09. सर्वसम्मत शिक्षा
10. पाणिनि सूत्र - 2 | 13
11. पा0 सू0 - 1 | 4 | 110 पर सिद्धान्तकौमुदी
12. ऋ0 प्रा0 - 2 | 13
13. ऋ0 प्रा0 - 2 | 3
14. ऋ0 प्रा0 - 2 | 4

15. तै0 प्रा0 - 22 | 13 पर वैदिकाभरण
16. याज्ञवल्क्य शिक्षा - 13
17. ऋक्तंत्र - 34
18. ऋक्तंत्र - 35
19. व्यास शिक्षा - 465
20. व्यास शिक्षा - 471
21. ऋक्तंत्र - 39
22. वा0 प्रा0 - 4 | 150
23. वा0 प्रा0 4 | 151